विप्रदास

जैन अध्ययन की प्रगति

[अखिल भारतीय प्राच्य विद्या परिषद् के १६ वें अधिवेशन के अवसर पर दिल्ली में 'प्राकृत और जैनधर्म' विभाग के अध्यक्ष पद से ता. २८-१२-५७ को दिया गया व्याख्यान ।]

दलसुख मालवणिया

जैन संस्कृति संशोधन मण्डल

उपस्थित विद्वद्वृन्द !

सर्वप्रथम आप सब गुरुजनों का आभार मानना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ कि आपने मुझे इस पद पर बैठा दिया। किन्तु जब मैं अपनी योग्यता का विचार करता हूँ तब यह प्रतीत होता है कि आपने मुझ जैसे व्यक्ति को अवसर दिया है उसका कारण मेरी विद्वत्ता नहीं किन्तु जैन धर्म और प्राकृत भाषा के क्षेत्र में अध्ययन करनेवालों की कमी—यह है। जो इस क्षेत्र में विद्वत्ता रखते हैं उन्होंने पुनः इस पद को स्वीकार करना उचित नहीं समझा होगा तब मेरे जैसे तुच्छ व्यक्ति को यह अवसर उन्होंने दिया—ऐसा मैं हृदय से मानता हूँ। मेरे लिये यह आनन्द और प्रतिष्ठा की वस्तु होने पर भी जब मैं अनुभव करता हूँ कि जैन धर्म और प्राकृत भाषा का क्षेत्र विद्वानों द्वारा उपेक्षित है तब हृदय दुःख का अनुभव करता है। और इस उपेक्षा के कारणों की खोज की ओर मन स्वतः प्रवृत्त हो जाता है। इन कारणों की चर्चा के पहले मैं दिवंगत आत्मा डॉ० हर्टल का स्मरण करना अपना कर्तव्य समझता हूँ। डॉ० हर्टल का परिचय आप सबको देने की आवश्यकता नहीं। जैन साहित्य के क्षेत्र में कथा साहित्य का जो सांस्कृतिक दृष्टि से महत्त्व है उस ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करने का श्रेय डॉ० हर्टल को था। उनकी ८४ वर्ष की आयु में गत वर्ष मृत्यु हुई उससे जो क्षति हुई उसकी पूर्ति हो नहीं सकती।

इस दुःखद घटना के साथ ही जब हम कुछ आनन्ददायक घटनाओं की ओर ध्यान देते हैं तब हमारा हृदय गद्‌गद् हो जाता है और ऐसा लगता है कि इस उपेक्षित क्षेत्र में कार्य करने वालों की सराहना भारतवर्ष के मनीषी और रजनैतिक नेता भी करने लगे हैं यह एक शुभ लक्षण है। पिछले जून के महीने में प्रज्ञाचक्षु पंडित सुखलालजी का अभिनन्दन समारोह 'अखिल भारतीय पंडित सुखलालजी सन्मान समिति' जिसके अध्यक्ष श्रीमोरारजी देसाई थे, की ओर से बम्बई में हुआ। उपराष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन् के करकमलों से पंडितजी के लेखों का 'दर्शन और चिन्तन' नामक संग्रह जो तीन भागों में मुद्रित था, उन्हें समर्पित किया गया और ५५ हजार रुपयों की थैली भी दी

गई। उसके बाद अक्टूबर में गुजरात युनिवर्सिटी ने उन्हें डी० लिट् की उपाधि से विभूषित करके राजनैतिक नेताओं के स्थान में विद्वान् का सम्मान करने की प्रथा का पुनरुद्धार किया।

जैन साहित्य की उपेक्षा क्यों?

जैन धर्म का साहित्य प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, कन्नड, तामिल, राजस्थानी और गुजराती में जो उपलब्ध है वह इतना व्यापक और विविध विद्या के क्षेत्रों को स्पर्श करने वाला है कि शायद ही कोई विषय ऐसा होगा जो अछूता रहा हो। फिर भी आधुनिक विद्वनों की उपेक्षा इसके अध्ययन के प्रति क्यों रही— यह एक विचारणीय प्रश्न है।

जैन धर्म भारतवर्ष का एक प्राचीन और स्वतंत्र धर्म है—इस विषय में अब तज्ज्ञ विद्वानों में सदेह नहीं। एक समय था जब कुछ विद्वानों ने अपने ही अज्ञान के कारण इसे बौद्ध या वैदिक धर्म की शाखा के रूप में बता दिया था और आज भी कुछ विद्वान् उसे वैदिक धर्म की शाखा बताते हैं। किन्तु प्राचीन वैदिक दर्शन और आचारों के साथ जब प्राचीन जैन दर्शन और आचारों की तुलना करते हैं तब स्पष्ट हो जाता है कि इन दोनों में मौलिक अन्तर है। आचार में दोनों धर्मों में आगे चल कर समन्वय का प्रयत्न देखा जाता है किन्तु दार्शनिक मान्यता में आज भी मौलिक भेद कायम है। ऐसी स्थिति में जैन धर्म को वैदिक धर्म या दर्शन की शाखा कहना ठीक नहीं। इतनी प्रासंगिक चर्चा के बाद मैं मूल प्रश्न कि जैन धर्म के साहित्य की उपेक्षा क्यों हुई—इस पर आता हूँ।

इस प्रश्न का उत्तर सहज नहीं। हमें इसके लिये आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व के इतिहास तक जाना होगा। जैन धर्म की प्रकृति का विचार करना होगा। भगवान् महावीर और बुद्ध समकालीन थे। किन्तु दोनों की प्रकृति में जो भेद देखा जाता है वही भेद जैन और बौद्ध धर्म में भी है। जैन धर्म साधकों का धर्म है। उसमें प्रचार गौण है। बौद्ध धर्म साधकों का धर्म हो कर भी साधना के समान ही उसमें प्रचार का भी महत्त्व है। भगवान् महावीर ने तीर्थंकर बन कर विहार करके जैन धर्म का प्रचार किया यह सच है। किन्तु प्रचार में उन्होंने इस बात पर विशेष ध्यान दिया कि साधक अपनी साधना में रत रहे, दुनिया से दूर रहे और अपना कल्याण करे। किंतु उनका यह उपदेश नहीं रहा कि साधक साधना के समय भी धर्म प्रचार के कार्य में उतना ही ध्यान दे जितना

अपनी साधना में। यही कारण है कि त्रिपिटक में बुद्ध के 'चरथ भिक्खवे चारिकां बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' जैसे वाक्य मिलते हैं किन्तु जैन आगमों में ऐसे वाक्य नहीं मिलते। परिणाम स्पष्ट है कि बुद्ध के समय का एक प्रभावशाली धर्म होकर भी जैन धर्म प्रचार की दृष्टि से पिछड़ गया। स्वयं पिटक इस बात के साक्षी हैं कि जहाँ कहीं बुद्ध गये प्रायः सर्वत्र बड़े-बड़े नगरों में प्रभावशाली निर्ग्रन्थ उपासकों से उनका मुकाबला हुआ और अन्त में बौद्ध धर्म का प्रभाव बढ़ा।

प्रचार को प्राधान्य नहीं होने से जैन धर्म बौद्ध धर्म के समक्ष अपना प्रभाव कायम न रख सका किन्तु साहित्य निर्माण की दृष्टि से भी यह पिछड़ गया यह बात नहीं है। त्रिपिटक और उनकी अट्ठकथा के अतिरिक्त पालि में अन्य बौद्ध साहित्य नहीं बना है जब कि प्राकृत में जैन साहित्य निर्माण की अविच्छिन्न धारा बीसवी शताब्दी तक कायम रही है। बौद्ध धर्म का महायानी साहित्य संस्कृत में लिखा गया और जैन धर्म का भी साहित्य सस्कृत में लिखा गया। चौदहवीं शताब्दी के बाद बौद्ध संस्कृत साहित्य प्रायः नही लिखा गया जब कि जैन संस्कृत साहित्य का निर्माण आज भी हो रहा है। बौद्ध साहित्य सीलोनी, तिब्बती, चीनी आदि भारतीयेतर भाषाओं में अपने प्रचार क्षेत्र के कारण लिखा जाता रहा जब कि जैन साहित्य अपभ्रंश और तज्जन्य प्राचीन और आधुनिक भारतीय प्रादेशिक भाषाओं में मर्यादित रहा।

जैन और बौद्ध दोनों धर्मों का प्रतिवाद करने के लिए वैदिक विद्वान् संनद्ध थे किन्तु अपनी सस्कृतभक्ति और अपभ्रंशद्वेष के कारण जैन आगमों और पालि पिटकों से वैदिक विद्वान् प्रायः अनभिज्ञ ही रहे। ऐसा अभी एक भी प्रमाण देखने में नहीं आया जिससे स्पष्ट सिद्ध हो कि प्राचीन काल के वैदिक विद्वानों ने प्राकृत या पालि के ग्रन्थ देखकर उनकी विस्तृत आलोचना की हो। वैदिकों द्वारा आलोचना तब ही संभव हुई जब जैन और बौद्ध ग्रन्थों का निर्माण संस्कृत में होने लगा।

आलोचना-प्रत्यालोचना का क्षेत्र खास कर वादप्रधान दार्शनिक संस्कृत साहित्य है। जैनों की अपेक्षा बौद्धो ने इस क्षेत्र में प्रथम प्रवेश किया। जैन परम्परा के सिद्धसेन और समन्तभद्र के पहले भी नागार्जुन जैसे प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक अपना प्रभाव इस क्षेत्र में जमा चुके थे और वैदिक दार्शनिकों में एक हलचल पैदा कर चुके थे। वात्स्यायन जैसे वैदिकों ने नागार्जुन के पक्ष का खंडन किया था और उनको वसुबन्धु और दिग्नाग जैसे दिग्गज बौद्ध दार्शनिकों

द्वारा उत्तर भी मिल चुका था। यही समय है जब जैन दार्शनिकों ने भी इस क्षेत्र में पदार्पण किया और सिद्धसेन, मल्लवादी, समन्तभद्र जैसे प्रबल जैन दार्शनिकों ने वैदिक और बौद्ध विद्वानों के मतों का खण्डन किया। उस समय के बाद के ग्रन्थों के देखने से यह प्रतीत होता है कि समन्तभद्र या मल्लवादी के ग्रन्थों में जो प्रौढ़ पांडित्य और वादक्षमता है वह उस समय के किसी भी वैदिक या बौद्ध विद्वानो के ग्रन्थों से कम नहीं। फिर भी आगे चलकर जिस प्रकार बौद्ध और वैदिक विद्वानों के बीच पारस्परिक खण्डन का जो तांता लग गया वैसा जैन और बौद्धों के बीच या जैन और वैदिक के बीच देखा नहीं जाता। हम स्पष्ट रूप से पाते हैं कि बौद्ध और वैदिकों में उत्तरोत्तर एक के बाद एक परस्पर खंडन करने वाले विद्वानों का तांता-सा लग गया है। कुमारिल, उद्द्योतकर, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर, शंकराचार्य, शांतरक्षित, कमलशील, वाचस्पति मिश्र, जेतारि, जयन्त, दुर्वेक, उदयन, ज्ञानश्री आदि विद्वानों के नाम दार्शनिक साहित्य के क्षेत्र में तेजस्वी तारो की तरह चमकते हैं। इनके ग्रन्थों को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन विद्वानों ने परस्पर जो खंडन किया है वह अपने से पूर्व होने वाले विद्वानों के ग्रन्थों को अपने समक्ष रख कर ही किया है। यह काल वस्तुतः बौद्ध और वैदिक विद्वानों के बीच प्रबल संघर्ष का काल रहा—इसकी साक्षी वैदिक और बौद्ध दार्शनिक ग्रंथ देते हैं। किंतु बौद्ध और वैदिकों के इस दीर्घकालीन संघर्ष में जैनों का क्या स्थान रहा इसका जब विचार करते हैं तब निराश होना पडता है। नागार्जुन से लेकर ज्ञानश्री तक के बौद्ध दार्शनिक ग्रन्थ देखें या वात्स्यायन से गंगेश तक के वैदिक ग्रन्थ देखें तब यह नहीं पता लगता कि उन दार्शनिकों के समक्ष जैन पक्ष भी कोई महत्त्वपूर्ण पक्ष था। सुमति या पात्रकेसरी जैसे जैन विद्वानो के मतों का विस्तृत खडन बौद्ध ग्रन्थों में देखा जाता है अवश्य, किन्तु वह प्रासंगिक है और प्रायः 'एतेन' की प्रक्रिया से है। स्याद्वाद या अनेकान्त जैसे वाद की समीक्षा भी सांख्य और मीमांसकों के साथ कर दी गई है। और तो और शंकराचार्य जैसे विद्वान् वैदिक दार्शनिक ने भी अनेकान्तवाद का जो खण्डन किया वह इतना छिछोरा है कि उनके नाम को शोभा भी नही देता और उनके बाद के वेदान्त के विद्वानों ने उसमें कुछ भी अपनी ओर से विशेष जोडा नहीं है। इतनी चर्चा से इतना स्पष्ट है कि दार्शनिकों के इस संघर्ष काल में जैन पक्ष बिलकुल गौण रहा। संघर्ष केवल बौद्ध और वैदिकों के बीच रहा।

ऐसा होते हुए भी जब हम उसी दीर्घ काल के बीच होने वाले जैन दार्श-

निकों के ग्रन्थ देखते हैं तब ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध और वैदिकों के इस संघर्ष का पूरा लाभ जैनों ने भी उठाया है। मल्लवादी हो या समन्तभद्र, अकलंक हो या हरिभद्र, विद्यानन्द हो या अभयदेव, प्रभाचन्द हो या वादी देव, हेमचन्द्र हो या यशोविजय—इन सभी जैन विद्वानों के दार्शनिक ग्रंथ इस बात की साक्षी देते हैं कि उन्होंने अपने-अपने काल के बड़े-बड़े बौद्ध और वैदिक विद्वानों के मतों की विस्तृत समीक्षा की है और खास कर उन दोनों के सघर्ष से निष्पन्न दोनों की खूबियों और खामियों का परिज्ञान करके अपने ग्रन्थों को समृद्ध किया है। इतना ही नहीं किन्तु वादी और प्रतिवादी दोनों की दलीलो को सुनने वाले न्यायाधीश के निर्णय में जो ताटस्थ्य होता है और दोनों के समन्वय का जो प्रयत्न होता है वैसा ही ताटस्थ्य और प्रयत्न इन जैन विद्वानों के ग्रन्थों में देखा जाता है। मल्लवादी का नयचक्र, हरिभद्र का शास्त्रवार्तासमुच्चय, अकलंक का राजवार्तिक और न्यायविनिश्चय, विद्यानंद की अष्टसहस्री और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अभयदेव का वादमहार्णव आदि ग्रंथ जैन दर्शन के अपने-अपने काल के उत्कृष्ट ग्रन्थ है। इतना ही नहीं किन्तु उस काल के वैदिक और बौद्ध ग्रन्थों की तुलना में भी उनका स्थान उच्चतर नही तो बराबरी का तो है ही। इतना होते हुए भी इन ग्रन्थों का उपयोग तत्कालीन या उत्तरकालीन बौद्ध या वैदिक विद्वानों ने नहींवत् किया है—यह भी एक सत्य हकीकत है। या यों कहना चाहिए कि जैनों का प्रयत्न वाद में उतरने का रहा और उतरे भी किन्तु वह प्रयत्न एकपक्षीय रहा। अर्थात् जैनाचार्यों ने तो अपने-अपने काल के समर्थ दार्शनिकों के विविध मतो की विस्तृत समालोचना अपने ग्रन्थों में की किन्तु जैन आचार्यों को उत्तर नहीं दिया गया। इसके अन्य कारण जो भी रहे हो किन्तु मेरे मत से एक कारण यह तो अवश्य है कि जैनो ने ग्रन्थो की रचना करके उन्हें अपने भडारों में तो अवश्य रक्खे किन्तु उन ग्रन्थों का प्रचार नहीं किया। इसका प्रमाण यह है कि जैन ग्रन्थों की हस्तप्रतों की प्राप्ति प्रायः किसी भी जैनेतर ग्रंथ भंडार में नही होती। इसके विपरीत जैन ग्रथागारों में जैनों के अलावा बौद्ध और वैदिक ग्रंथों की सैकड़ों क्या सहस्त्रों हस्तप्रतियाँ मौजूद हैं। इससे एक बात तो सिद्ध होती है कि जैन विद्वान् अपने ग्रंथागारों को सभी प्रकार के ग्रंथों से समृद्ध करते थे। इतना ही नहीं किन्तु जैन ग्रन्थों को भी जैन-अजैन सभी प्रकार की सामग्री से समृद्ध करते थे। किन्तु जैन ग्रन्थों का उपयोग जैनेतरों ने उतनी ही मात्रा में किया हो उसका प्रमाण उपलब्ध नहीं होता।

ऐसा क्यों हुआ? इसका जब हम विचार करते हैं तो हमें उसी जैन

प्रकृति पर आना पड़ता है। बौद्धों के स्थान-स्थान पर अपने विहार होते थे जहाँ बौद्ध भिक्षु स्थायी रूप से रहते थे और अपना अध्ययन-अध्यापन करते थे। यही बात वैदिक विद्वानों के विषय में भी थी। अर्थात् उनका निवास स्थान स्थायी होता था। बौद्ध विहार एक प्रकार से आगे चलकर विद्यापीठ का रूप ले लेते थे और यही बात वैदिकों के मठों की भी है। किन्तु जैनों के ऐसे न विहार थे, न मठ। जैन आचार्य तो एक स्थान में रह नही सकते थे सदा विचरण करते थे। अतएव उनकी विद्यापरंपरा स्थायी रूप ले नहीं पाती थी। पुस्तकों का बोझ लेकर वे विहार भी नहीं कर सकते थे। पुस्तक लिखकर भंडार में रख दी और अपने आगे चल पड़े—यही प्रायः उन जैन विद्वानों की जीवन प्रक्रिया थी। बीच-बीच में कुछ जैन आचार्यों ने चैत्यवास के रूप में स्थायी हो जाने का प्रयत्न किया किन्तु जैन संघ में ऐसे आचार्यों की प्रतिष्ठा टिक नही सकी और आगे चलकर पुनः ग्रामानुग्राम विचरण करने वालो की प्रतिष्ठा होने लगी और चैत्यवासी परपरा हीन दृष्टि से देखी जाने लगी। ऐसी स्थिति में विद्यापरंपरा का सातत्य और प्रचार संभव नहीं था। जैनेतरो को जैन मत जानने का साधन जैन ग्रन्थ नहीं किन्तु जैन व्यक्ति ही रहा। ऐसी स्थिति में जैनेतर ग्रन्थों में जैन ग्रन्थ के आश्रय से विचार होना संभव न था। अतएव हम देखते हैं कि जैनेतर ग्रन्थों में जैन मत और ग्रन्थों की चर्चा नहींवत् है।

जैनों के पक्ष की चर्चा अन्य ग्रन्थो में नहीं मिलती इसका एक कारण और भी है और वह यह है कि दार्शनिकों में प्रायः अपने से विरोधी वादों की समीक्षा करने का प्रयत्न देखा जाता है। बौद्ध और वैदिक मन्तव्यों में जैसा ऐकान्तिक विरोध है वैसा जैन और वैदिकों में या बौद्ध और जैन में परस्पर ऐकान्तिक विरोध है भी नहीं। अतएव वैदिक और बौद्ध परस्पर प्रबल विरोधी मन्तव्यों की विचारणा करें यह स्वाभाविक है। जैनों ने तो दार्शनिक दृष्टि से बौद्ध और वैदिकों के दार्शनिक विरोध को अनेकान्त के आश्रय से मिटाने का प्रयत्न किया है। ऐसी स्थिति में जैनाचार्य बौद्ध या वैदिक आचार्यों के समक्ष एक प्रबल विरोधी रूप से उपस्थित नहीं भी होते हैं। यह भी एक कारण है कि जैनाचार्यों के ग्रन्थों की चर्चा या प्रचार अन्य दार्शनिकों में नहीं हुआ।

एक ओर दार्शनिक दृष्टि से प्रबल विरोधी पक्ष के रूप में जैन पक्ष को जब स्थान नहीं मिला तब जैनों के साहित्य को देखने की जिज्ञासा का उत्थान ही जैनेतरों में नहीं हुआ; तो दूसरी ओर जैनों को अपने मन्तव्यों को लिखित

रूप में सर्वत्र प्रचारित करने की प्रेरणा या आवश्कता भी प्रतीत नहीं हुई। वे अपने भक्तों के बीच ही अपने साहित्य का प्रचार करते रहे। भक्तों में भी श्रावक या उपासक वर्ग तो उन हस्तलिखित पोथियों की पूजा ही कर सकता था किन्तु पढ़ने की आवश्यकता महसूस नहीं करता था। साधुवर्ग में भी कुछ ही साधु संस्कृत-प्राकृत पढ़-लिख सकते थे अन्य अधिक संख्या तो ऐसी ही होती थी जो बाह्य तपस्या आदि साधनों के द्वारा ही अपनी उन्नति में लगे हुए थे। ऐसी स्थिति में सब विषयों में सदैव साहित्य का सर्जन होकर भी प्रचार में आया नहीं तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं है।

अंग्रेज यहाँ आये और उसके बाद मुद्रण-कला का विकास हुआ। प्रारम्भ में तो जैन पुस्तकों के प्रकाशन का ही विरोध हुआ और वह विरोध मर्यादित रूप में आज भी है। किन्तु जब वेबर, याकोबी और मोनियर विलियम्स जैसे विद्वानों ने जैन साहित्य का महत्त्व परखा और उसकी उपयोगिता राष्ट्रीय सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से भी अत्यधिक है—इस बात को कहा तब विद्वानों का ध्यान जैन साहित्य की ओर गया। किन्तु दुर्भाग्य यह है कि प्रकाशित जैन साहित्य की मात्रा अत्यधिक होते हुए भी प्राकृत और अपभ्रंश भाषा उसके विशेष अध्ययन में बाधक इसलिये हुई कि संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन की परपरा के समान प्राकृत-अपभ्रंश की अध्ययन-अध्यापन परम्परा भारतवर्ष में थी ही नहीं। और जो जैन साहित्य प्रकाशित भी हुआ उसका अधिकांश इस दृष्ट से तो प्रकाशित हुआ ही नहीं कि इसका उपयोग जैनेतर विद्वान् अपने संशोधन कार्य में भी करें। अतएव हम देखते हैं कि अत्यधिक ग्रन्थ पत्राकार मुद्रित हुए और उनमें विस्तृत प्रस्तावना, अनुक्रमणिका और शब्दसूचियाँ आदि उपयोगी सामग्री दी नहीं गई और आधुनिक संशोधन पद्धति से उनका सपादन भी नहीं हुआ। इन कारणों से विद्वानों की उपेक्षा आधुनिक काल में भी जैन साहित्य के प्रति रही।

अध्ययन की आवश्यकता—

इस उपेक्षा के कारण जैन दर्शन के मर्म को पकड़ना प्राचीन और आधुनिक काल के विद्वानों के लिए कठिन हो गया है। यही कारण है कि अनेकान्त के विषय में प्राचीन काल में शंकराचार्य द्वारा दिये गए आक्षेपों को जिस प्रकार अन्य वेदान्ती विद्वान् दोहराते रहे उसी प्रकार आधुनिक विद्वानों में किसी एक ने जो आक्षेप किया दूसरो के द्वारा वही दोहराया जाता है और प्रायः यह देखा जाता है कि मूल ग्रंथ अब उपलब्ध होने पर भी उन्हें देखने का कष्ट

विद्वान् लोग नहीं उठाते। विद्वानों के आक्षेपों का उत्तर देने का तो यह स्थान नहीं। जिन्हें जिज्ञासा हो वे पं० महेन्द्र कुमार द्वारा लिखित 'जैन दर्शन' देखें। किन्तु जब आज सह-अस्तित्व और पचशील की बात कही और प्रचारित की जाती हैं तब यह विचारना तो आवश्यक हो गया है कि यह सह-अस्तित्व और पंचशील की बात भारतवर्ष में से ही क्यो उठी ? इसके पीछे क्या भारतवर्ष की कमजोरी है या भारतीय संस्कृति का जीवातुभूत तत्त्व समन्वय की भावना है ? मेरी तुच्छ समझ में तो यह आता है कि वैदिक काल से चली आई समन्वय की भावना का ही चरम विकास राजनैतिक क्षेत्र में सह-अस्तित्व और पंचशील का सिद्धान्त है। कमजोर और छोटे राष्ट्र तो और भी हैं किन्तु उन्होंने तो सह-अस्तित्व की आवाज नहीं उठाई। अतएव यह मानना पड़ेगा कि विविध विचारो की क्रीडाभूमि भारतवर्ष में से ही उठनेवाली यह आवाज उसकी अपनी प्राचीन परपरा के अनुकूल है। वेद काल में बहुदेववाद के विरोध का समन्वय 'एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' यह था। उपनिषद् में तो ब्रह्मतत्त्व के साक्षात्कर्ताओ ने ब्रह्म को 'अणोरणीयान् महतो महीयान्', 'क्षरम् अक्षरं च व्यक्ताव्यक्तम्' कह करके एक प्रकार से दो विरोधी धर्मों का समन्वय एक ब्रह्म में किया है। एक ओर ब्रह्म को अवाच्य बताया गया और दूसरी ओर उसे समझाने के लिए ही तो उपनिषदों की रचना हुई। उपनिषदों में जगत् के मूल में सत्, असत्, वायु, आकाश, अग्नि आदि कई पदार्थों को बताया गया, तो आखिर इन सब की एकवाक्यता ब्रह्म पदार्थ में की गई— यह सब मेरे विचार से समन्वय की ही भ वना के कारण शक्य हुआ है। इतना ही नहीं किन्तु भ.रतवर्ष के समग्र दर्शनों को अधिकारी भेद से निरूपत करके चरम सीमा पर ब्रह्मवाद को रखा गया यह भी उसी की ओर संकेत है। बौद्ध दर्शन के परस्पर विरोधी सम्प्रदायों की भी बुद्ध के उपदेश के साथ संगति अधिकार भेद को लेकर ही की गई और शून्यवाद को चरम सीमा में बिठाया गया— यह समन्वय नहीं तो क्या है ? ऐसी स्थिति में भारतवर्ष के समग्र दर्शनों का समन्वय करने वाला जैन द.शनिकों का अनेकान्तवाद अब केवल आक्षेपों या उपेक्षा का विषय न रह कर अभ्यास का विषय बने यह आवश्यक है। जहाँ अन्य दार्शनिकों ने मौलिक विरोध को विरोध न मान कर केवल सैद्धान्तिक समन्वय की बात की है वहाँ जैनाचार्यों ने उस बात की सचाई किस प्रकार सिद्ध होती है उसे विस्तार से दिखाने का अपने दार्शनिक ग्रंथों में प्रयत्न किया है। वैदिक वाक्य में तो सिद्धान्त रूपसे कह दिया कि 'एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति' किन्तु इस वैदिक वाक्य की सचाई को सिद्ध करने का श्रेय

यदि किसी को है तो वह जैनाचार्यों को है। जैसे-जैसे दार्शनिक विचारों का भारतवर्ष में विकास और विस्तार बढ़ता गया वैसे-वैसे जैनों का अनेकान्त उन सब का समन्वय करता गया यह बात कालक्रम से निर्मित जैन दार्शनिक ग्रंथों से सिद्ध होती है। वस्तुतः देखा जाय तो भारतवर्ष के दार्शनिक विचारों के क्रमिक विकास को अपने में संनिविष्ट करनेवाले ये जैन ग्रन्थ उपेक्षा का नहीं किन्तु अभ्यास का विषय बने यह आवश्यक है।

अनेकान्त की ही तरह भारतवर्ष में बुद्ध और महावीर से लेकर महात्मा गाँधी, विनोबा तक अहिंसा के विचार का विकास हुआ है तथा आचरण में अहिंसा की व्यापकता क्रमशः बढ़ते-बढ़ते आज राजनैतिक क्षेत्र में भी पहुँच गई है। ऐसी अहिंसा के विशेष अध्ययन की सामग्री जैन ग्रन्थों में है। जिस अहिंसा के सिद्धान्त का अग्रदूत भारतवर्ष राष्ट्रसमूह में बना है उस अहिंसा की परम्परा का इतिहास खोजना अनिवार्य है और उसके लिए तो जैन ग्रन्थों का अध्ययन अनिवार्य होगा ही। यह एक अच्छा लक्षण है जिससे कि जैन ग्रन्थों के अध्ययन की प्रगति अवश्य होगी ऐसा मैं मानता हूँ।

आधुनिक भाषाओं के विकास का अध्ययन बढ़ रहा है और प्रादेशिक प्रचलित भाषाओं के उपरान्त बोलियों का अध्ययन भी हो रहा है—यह एक अच्छी बात है जिसके कारण प्राकृत भाषा का भाषादृष्टि से अध्ययन अनिवार्य हो गया है। किन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि भारतवर्ष के विश्वविद्यालयों की उपेक्षा अभी भी इस ओर बनी हुई है। जब तक प्राकृत भाषा का विधिवत् अध्ययन नहीं होता तब तक आधुनिक प्रादेशिक भाषाओं और बोलियों का अध्ययन भी अधूरा ही रहेगा। आशा है इस ओर विश्वविद्यालय के अधिकारीवर्ग ध्यान देंगे और इस कमी को पूरा करेंगे।

साहित्योद्धार के प्रयत्न—

याकोबी जैसे कुछ विद्वानों ने जैन ग्रन्थों के आधुनिक पद्धति से संस्करण प्रकाशित करके विद्वानों को इस साहित्य के प्रति आकृष्ट किया। आधुनिक युग प्रचार-युग है। अतएव उसका असर जैनों में भी हुआ और इस दिशा में भी प्रयत्न हुए। फलस्वरूप माणिकचंद दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, जैन साहित्य उद्धारक फंड ग्रन्थमाला, आत्मानन्द जैन ग्रन्थमाला, मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थ माला, जीवराज जैन ग्रन्थ माला, आदि ग्रन्थमालाओं में आधुनिक ढंग से जैन पुस्तकें प्रकाशित होने लगीं। इतना होते हुए भी जैन

साहित्य की विशालता और व्यापकता देखते हुए ये प्रयत्न अपने आप में महत्त्वपूर्ण होते हुए भी पर्याप्त नहीं है। अभी तो समग्र जैन साहित्य को आधुनिक संशोधन पद्धति से प्रकाशित करने का महत् कार्य विद्वानों के समक्ष पड़ा है और ऐसे कार्य केवल व्यक्तिगत प्रयत्नों से नहीं किन्तु संमिलित होकर पारस्परिक सहकारिता से ही हो सकते हैं। खेद के साथ कहना पड़ता है कि जैनों के सांप्रदायिक अभिनिवेश के कारण उनकी यह साहित्यिक बहुमूल्य सपत्ति अध्ययन के क्षेत्र से लुप्त हो रही है किन्तु वे बुद्धिपूर्वक प्रयत्न नहीं कर रहे हैं। जब मूल संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश ग्रन्थ के प्रकाशन की यह हालत है तो उनके आधार पर आधुनिक भाषाओं में लिखे गये अध्ययन ग्रन्थों की बात उठती ही नहीं। हजारों की तादाद में मूल जैन ग्रन्थों के होते हुए भी उनके आधार पर लिखे गये अध्ययन ग्रन्थ अंगुलियों पर भी नही गिने जा सकते यह हालत है।

ऐसी परिस्थिति में जैन साहित्य के अध्ययन-अध्यापन, प्रकाशन आदि के लिए जो भी प्रयत्न हो उनका स्वागत हमें करना चाहिए। परम संतोष की बात है कि बिहार सरकार ने संस्कृत पालि के अतिरिक्त प्राकृत विद्यापीठ की भी स्थापना ई० १९५६ में की है और उसका संचालन डा० हीरालाल जैन जैसे प्रतिष्ठित विद्वान् को सौंपा है। आशा की जाती है कि यह विद्यापीठ जैन साहित्य के बहुमुखी अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन जायगा। राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद का ध्यान भी इस उपेक्षित क्षेत्र की ओर गया यह परम सौभाग्य की बात हुई। उनके सत्प्रयत्नों से प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी की स्थापना १९५३ में हुई है और प्रारंभिक कार्य व्यवस्थित होकर अब वह भी इस क्षेत्र में कार्य करने लगी है। मुनिराज श्री पुण्यविजयजी का सम्पूर्ण सहकार इसे प्राप्त है। प्रारम्भ में जैन आगमों के संशोधित संस्करण तथा अन्य सांस्कृतिक महत्त्व के प्राकृत ग्रन्थों का प्रकाशन करने की योजना है। इससे विद्वानों को आधारभूत मौलिक प्रामाणिक सामग्री अध्ययन के लिए मिलेगी। पिछले अक्टूबर में सेठ श्री कस्तूरभाई लालभाई ने अपने पिता की स्मृति में 'भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर' की स्थापना अहमदाबाद में की है। प्रारंभ में यह संस्था जैन भंडारो को, जो कि कई स्थानों में हैं, उन्हें एकत्र करके व्यवस्थित करेगी। इससे विद्वानों को यह सुभीता हो जायगा कि उन्हे अभीष्ट ग्रन्थों की प्रतियाँ एक ही स्थान से मिल सकेगी। आशा की जाती है कि विद्वानों को हस्तलिखित प्रतियों को प्राप्त करने में जो कठिनाई का अनुभव करना पड़ता है वह इससे दूर हो जायग। अभी-अभी नवम्बर में दिल्ली में होनेवाले विश्वधर्म सम्मेलन

में अहिंसा के विषय में एक विद्यापीठ स्थापित करने की योजना बनाई गई है उससे भी जैन संशोधन को बल मिलेगा। बनारस के पार्श्वनाथ विद्याश्रम की जैन साहित्य के इतिहास की योजना प्रगति कर रही है और विद्वानों के सहकार से वह पूर्ण होगी तब जैन साहित्य का महत्त्व और उसकी व्यापकता प्रत्यक्ष होगी। बनारस का जैन सस्कृति सशोधन मंडल भी इस क्षेत्र में अपनी सीमित शक्तिओं के होते हुए भी कार्य कर रहा है। श्वेताम्बर जैन कान्फ्रेन्स, बम्बई, महावीर तीर्थक्षेत्र समिति, जयपुर और वीर सेवा मंदिर, दिल्ली का विशेष ध्यान जैन भंडारों को व्यवस्थित करने की ओर गया है और उनके द्वारा हस्तलिखित प्रतिओं की सूचियाँ प्रकाशित हो रही हैं। फलस्वरूप कई अज्ञात ग्रन्थों का पता चला है और ग्रन्थस्थ प्रशस्तिओं के प्रकाशन द्वारा कई ऐतिहासिक तथ्यों की उपलब्धि हुई है।

जैन आगमों के आधुनिक पद्धति से संशोधित संस्करण, अनुवाद के साथ प्रकाशित करने का प्रयत्न श्वेताम्बर स्था० कान्फ्रेन्स, श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा और प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी ये तीनों संस्थाएँ कर रही हैं। यदि ये संस्थाएँ परस्पर सहकार से इस महत्त्वपूर्ण कार्य में लग जायँ तो कार्य की संपूर्ति सहज और सुचारु रूप से होगी।

यह परम हर्ष की बात है कि डा० हीरालालजी के प्रयत्न से सिद्धान्त ग्रन्थ षट्खण्डागम का धवलाटीका के साथ जो प्रकाशन हो रहा था वह अब १६ भागों में सम्पूर्ण हो गया है। कषायपाहुड भी सानुवाद प्रकाशित हो गया है और महाबंध भी पूर्ण होने जा रहा है। इस तरह से दिगम्बर संप्रदाय के आगम ग्रन्थों का यह प्रकाशन अब समाप्तप्राय है और जैन धर्म के कर्म सिद्धान्त को जानने का एक उत्तम साधन विद्वानों को उपलब्ध हो गया है।

ई० १९५६–५७ की प्रगति—

मौलिक संशोधन के क्षेत्र में डेक्कन कालेज, पूना सराहनीय कार्य कर रही है। उसके द्वारा प्रकाशित डॉ० देव का History of Jaina Monachism और डा० दांवने का Nominal Composition in Middle-Indo-Aryan अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। डा० देव ने जैन श्रमणों के आचारों का कालक्रम से मूल प्राकृत और सस्कृत ग्रन्थों से निरूपण एक बहुश्रुत विद्वान् की योग्यता से किया है। भूमिका रूप से उन्होंने श्रमण परपरा का प्रादुर्भाव कैसे हुआ इस समस्या के विषय में विविध मतों की समीक्षा करके एक समन्वय

प्रधान सुझाव रखा है और श्रमण संघ और उसके आचारों के ग्रन्थगत तथ्यों का संवाद उपलब्ध शिला लेखों से भी दिखाया है। श्रमणों और बहुजन समाज में परस्पर आचारों के विषय में किस प्रकार आदान-प्रदान हुआ है यह भी सप्रमाण दिखाने का सफल प्रयत्न किया है। अब तक जैन दर्शन के विषय में तो अँग्रेजी में कुछ पुस्तकें उपलब्ध थी किन्तु जैन श्रमणों के आचारों का सांगोपांग निरूपण हुआ नही था। डा० देव की यह पुस्तक इस क्षेत्र में मार्ग-सूचक स्तंभ के रूप में हमें उपलब्ध हुई है। इस विषय के लिये कितनी विपुल सामग्री उपलब्ध है यह भी स्पष्ट हो गया है। डा० देव इस क्षेत्र में अपना अध्ययन जारी रखें और ऐसे ही उत्कृष्ट ग्रन्थ की भेंट हमें देते रहें यही उनसे निवेदन है।

प्राकृत और पालि भाषा के समासों का अध्ययन डा० दावने ने कुशलतापूर्वक करके प्राकृत भाषा के इस विषय के अध्ययन की जो कमी थी उसे दूर किया है। लेखक ने प्राकृत और पालि भाषा के समासो के प्रयोगो का अध्ययन कालक्रम से विकासक्रम की दृष्टि से किया है। डा० दावने की यह पुस्तक प्राकृत और पालि भाषा के अध्येताओं के लिये कई नये तथ्यों को सप्रमाण उपस्थित करती है। खास कर प्राकृत वैयाकरणों ने अपने प्राकृत भाषा के व्याकरणों में समास प्रकरण दिया नही है। प्राकृत व्याकरण की इस कमी की पूर्त्ति तो डा० दावने ने की ही है। साथ ही संस्कृत और पालि की तुलना में प्राकृत समासों की विशेषता का भी दिग्दर्शन हो गया है।

जैन संस्कृति संशोधन मंडल द्वारा प्रकाशित जैन कला के क्षेत्र में लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान् डा० उमाकान्त शाह का ग्रन्थ Studies in Jaina Art जैन कला विषयक एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक सिद्ध होगी। विद्वान् लेखक ने इसमें उत्तर भारत में उपलब्ध जैन कला के महत्त्वपूर्ण अवशेषों की विवेचना की है। तथा जैन पूजा के प्रतीकों की ऐतिहासिक आलोचना सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप से करने का श्रेय भी प्राप्त किया है। इतना ही नहीं किन्तु गुर्जर शिल्प कला का पार्थक्य विद्वानों के समक्ष सप्रमाण उपस्थित करने का सत्प्रयत्न भी इस ग्रन्थ में लेखक ने किया है। पुस्तक जैन कला के विषय में अपूर्व है इतना ही नहीं किन्तु प्रतिपाद्य विषय का सांगोपांग प्रामाणिक निरूपण भी उपस्थित करती है।

हामबूर्ग से Bruhn का महानिबन्ध शीलांककृत 'चउपन्न महापुरुस चरिय' के विषय में प्रकाशित हुआ है यह सूचित करता है कि जेकोबी की परंपरा जर्मनी

में अभी भी जीवित है। आचार्य शीलांकक्कृत 'चउपन्न महापुरुस चरिय' अभी अप्रकाशित है। प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी उसे प्रकाशित करने जा रही है।

जैन धर्म के प्रचार का भौगोलिक दृष्टि से वर्णन करने वाली अनेक पुस्तकों की सकला वन गई है। उस सकला में पी० बी० देसाईकृत Jainism in South India and Some Jaina Epigraphs एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। इसमें तामिल, तेलूगु और कन्नड भाषा-भाषी प्रदेशों में जैन धर्म के प्रचार का ऐतिहासिक आधारों पर वर्णन है। तथा हैदराबाद प्रदेश के कन्नड शिला लेखो का संग्रह, अँग्रेजी विवरण और हिन्दीसार के साथ पहली बार ही दिया गया है। पुस्तक का प्रकाशन जीवराज जैन ग्रन्थमाला में हुआ है। उसी संकला में श्री राय चौधरी ने Jainism in Bihar लिखकर एक और कडी जोडी है। प्रादेशिक दृष्टि से विविध अध्ययन ग्रन्थो के द्वारा ही समग्रभाव से जैन धर्म के प्रचार क्षेत्र का ऐतिहासिक चित्र विद्वानों के समक्ष आ सकता है। अभी भी कई प्रदेशों के विषय में लिखना वाकी ही है।

पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वनारस से प्रकाशित डा० मोहन लाल मेहता का महानिबन्ध Jaina Psychology कर्मशास्त्र का मानसशास्त्र की दृष्टि से एक विशिष्ट अध्ययन है। अंग्रेजी में डा० ग्लाझनप् ने जैन कर्म मान्यता का जैन दृष्टि से विवरण दिया ही था किन्तु उस मान्यता का सवाद विसंवाद आधुनिक मानसशास्त्र से तथा अन्य दर्शनों से किस प्रकार है यह तो सर्वप्रथम डा० मेहता ने ही दिखाने का प्रयत्न किया है।

कद में छोटी किन्तु पूजा सवधी ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर लिखी गई प्रसिद्ध विद्वान् आचार्य कल्याण विजयजी की 'जिनपूजापद्धति' पुस्तिका में जैन पूजा पद्धति में कालक्रम से कैसा परिवर्तन होता आया है इस विषय का सुन्दर निरूपण है।

जैन कल्चरल रिसर्च सोसाइटी द्वारा डा० उमाकान्त शाह का निबंध 'सुवर्ण भूमि में कालकाचार्य' प्रकाशित हुआ है। इतिहास के विद्वानो का ध्यान इस पुस्तक की ओर मैं विशेषतः आकर्षित करना चाहता हूँ। प्रथम वार ही लेखक ने प्रामाणिक आधार से ये स्थापनाएँ की हैं कि जैनाचार्य कालक भारतवर्ष के वाहर सुवर्ण भूमि तक गये थे। सुवर्णभूमि वर्मा, मलयद्वीपकल्प, सुमात्रा और मलयद्वीप समूह है। आचार्य कालक अनाम (चंपा) तक गये।

आचार्य कालक ही श्यामार्य हैं और अनुयोग कर्ता भी हैं। उस निबन्ध में इतिहास के विद्वानों के लिये विक्रम संवत् और गर्दभिल्ल के विषय में भी पुनः विचार करने की प्रेरणा है।

उसी सोसायटी की एक अन्य पुस्तक है 'स्वाध्याय'। इसमें आत्मा के विषय में विचारणा महात्मा भगवानदीन ने की है।

जैन दर्शन के आत्मस्वरूप को केन्द्र में रख कर समग्र भाव से भारतीय दर्शनसमत आत्मा और ईश्वर के स्वरूप का तथा आध्यात्मिक साधन का विशद वर्णन पंडित श्री सुखलालजी ने 'अध्यात्म विचारणा' नाम से गुजराती और हिन्दी में प्रकाशित उनके तीन व्याख्यानों में किया है। यह छोटा-सा किन्तु सारगर्भित ग्रन्थ दार्शनिकों को भारतीय दर्शनों को समन्वयप्रधान दृष्टिकोण से देखने की दृष्टि देगा इसमें संदेह नहीं है। यह ग्रन्थ अध्यात्म की विचारणा के मूल उद्देश्य आत्मोन्नति की ओर भी अग्रसर करेगा ऐसा मेरा विश्वास है।

दर्शन के प्रसिद्ध विद्वान् पं० महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य ने 'जैन दर्शन' हिन्दी में लिख कर वस्तुतः जैन दर्शन का बड़ा उपकार किया है। संस्कृत जानने वालों को जैन दर्शन का अध्ययन सुलभ था किन्तु हिन्दी में समग्र भाव से जैन दर्शन का परिचय देनेवाली कोई भी पुस्तक नहीं थी। इस महती कमी की पूर्ति का श्रेय पं० महेन्द्र कुमार को है। ग्रन्थ विस्तार से लिखा गया है और दार्शनिक वाद-विवाद में जैनों का कैसा प्रयत्न रहा इसका अच्छा चित्र उपस्थित करने में पंडितजी को सफलता मिली है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन वर्णी ग्रन्थमाला में हुआ है।

भगवान् महावीर के ऐतिहासिक विस्तृत चरित्र की संपूर्ति अभी बाकी है। फिर भी डा० उपाध्ये का व्याख्यान Mahavira and His Philosophy of Life भगवान् महावीर के जीवन का जो संदेश है उसे आकर्षक ढंग से उपस्थित करता है और भगवान् महावीर के प्रति आदर उत्पन्न करने की पर्याप्त सामग्री देता है। लोकभोग्य जीवन चरित्र लिखने में सिद्धहस्त लेखक श्री वालाभाई देसाई 'जयभिक्खु' ने गुजराती में लोगभोग्य ऐसे भगवान् महावीर के दो जीवन चरित्र 'निर्ग्रन्थ भगवान् महावीर' और 'भगवान् महावीर' लिखे हैं। उनसे भगवान् महावीर की जीवन साधना का अच्छा परिचय मिलता

है। जैन कथाओं को आधुनिक ढङ्ग से सजाकर लिखने में भी श्री बालाभाई कुशल हैं और श्री रतिलाल देसाई भी। इन दोनों के कथासंग्रह क्रमशः 'सद्वाचन श्रेणी' और 'सुवर्ण कंकण' के नाम से प्रकाशित हुए हैं। जीवन को उन्नत बनाने में ये कथाएँ सहायक हो ऐसी चोट इनमें विद्यमान है।

अपभ्रंश भाषा का साहित्य क्रमशः प्रकाशित हो रहा है किन्तु अभी कई ग्रन्थ अप्रकाशित ही हैं। डा० हरिवंश कोछड़ ने 'अपभ्रंश साहित्य' लिख कर अपभ्रंश के अध्येताओं के लिये एक अच्छा परिचय ग्रन्थ उपस्थित किया है। डा० कोछड़ ने इस ग्रन्थ में अपभ्रंश भाषा का परिचय उसके विकास के साथ दिया है तथा हिन्दी भाषा के साथ अपभ्रंश के सम्बन्ध को भी स्पष्ट किया है। तदुपरांत अपभ्रंश के विविध साहित्यका परिचय कराया है।

पिछले दो वर्षों में अभिनन्दन और स्मृति ग्रन्थों के रूप में अनेक विद्वानों के सहकार से जो लेख-संग्रह प्रकाशित हुए हैं उन्हें देखते हुए एक बात तो अवश्य ध्यान में आती है कि विद्वानों का ध्यान जैन दर्शन, समाज, धर्म आदि की ओर गया है किन्तु अभी प्राकृत भाषा विषयक विशेष अध्ययन उपेक्षित है। जैन कला की दृष्टि से 'आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि स्मारक ग्रन्थ' सुरुचिपूर्ण सामग्री से सपन्न है। जैन कला के विविध क्षेत्रों को स्पर्श करनेवाले अनेक चित्र और लेखों के कारण यह अभिनन्दन ग्रन्थ कला के अध्येताओं के लिये संग्रहणीय बन गया है। तदुपरांत जैनदर्शन, धर्म, समाज आदि के विषय में भी अच्छे लेखों का संग्रह इसमें हुआ है। विशेष बात यह है कि हिन्दी, अंग्रेज़ी और गुजराती तीनों भाषाओं के लेख संग्रह में हैं।

ईसा की १७वीं शती में होनेवाले जैनदर्शन के प्रसिद्ध विद्वान् उपाध्याय यशोविजयजी की स्मृति रूप 'यशोविजय स्मृति ग्रन्थ' का प्रकाशन उपाध्याय जी के विविध विषयक पांडित्य और आध्यात्मिक जीवन को स्फुट करने में सफल हुआ है और उपाध्यायजी की जैन साहित्य को जो देन है उसका अच्छा चित्र उपस्थित करता है।

आचार्य राजेन्द्र सूरि जिन्होंने 'अभिधानराजेन्द्र' महाकोष का निर्माण किया था, उनके निधन की पचासवीं तिथि के स्मारक रूप से 'श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरि स्मारक ग्रन्थ' का प्रकाशन हुआ है। विशालकाय इस ग्रन्थ में हिन्दी अंग्रेजी और गुजराती में आचार्य राजेन्द्र सूरि के जीवन के अतिरिक्त दर्शन और संस्कृति; जिन, जिनागम और जैनाचार्य; जैनधर्म की प्राचीनता और

प्रसार; ललितकला और तीर्थंकर; हिन्दी जैन साहित्य आदि विषय में विविध सामग्री का संकलन हुआ है।

नये लेखकों के गुरु स्थानीय तीन जीवित विद्वानों की पचास से भी अधिक वर्ष की लेखन सामग्री एकत्र होकर प्रकाशित हुई है—यह इस उपेक्षित क्षेत्र की आनन्ददायक घटना है। प्रज्ञाचक्षु श्री पं० सुखलालजी के हिन्दी-गुजराती लेखों का संग्रह तीन भागों (एक हिन्दी और दो गुजराती) में ढाई हजार से भी अधिक पृष्ठों में 'दर्शन और चिन्तन' नाम से प्रकाशित हुआ है। इसमें पंडितजी के लेखों को धर्म और समाज, दार्शनिक मीमांसा, जैनधर्म और दर्शन, परिशीलन, अर्घ्य, प्रवासकथा, आत्मनिवेदन—इन खण्डों में विभक्त किया गया है। वाचक को प्रज्ञाचक्षु पंडितजी की साहित्य-साधना का जब साक्षात्कार होता है तब वह अवाक् रह जाता है और जीवन में एक नई प्रेरणा लेकर उन्नति की ओर अग्रसर होता है – ऐसी जीवनी-शक्ति इन लेखों में है। कोई चर्चा ऐसी नहीं होती जिसका सत्य और समुन्नत जीवन से स्पर्श न हो। पुरानी चर्चा भी आज नई जैसी लगती है क्योंकि पंडितजी किसी भी विषय का निरूपण उपलब्ध पूरी सामग्री के आधार पर करते हैं और पूर्वग्रह नहीं होता। इस दृष्टि से उनके लेखों का मूल्य कालग्रस्त नहीं होता।

श्री जुगलकिशोर मुख्तार की ऐतिहासिक चर्चाएँ सुविदित हैं। उनके दीर्घकालीन ऐतिहासिक अन्वेषण कार्य को एकत्र करके 'जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश' नाम से एक ग्रन्थ में प्रकाशित किया गया है। श्री मुख्तार जी की लगन और अध्यवसाय का पता तो इसमें लगता ही है, उपरांत जैन साहित्य और इतिहास की अनेक गुत्थियां सुलझाना श्रमसाध्य होने पर भी इन वयोवृद्ध संशोधक का धैर्य कभी नहीं टूटा यह जब हम उनके लेखों द्वारा जानते हैं तब जीवन में उत्साह लेकर ही पुस्तक से अलग हो सकते हैं। अन्वेषकों के लिये तो यह ग्रन्थ अनिवार्य सा है।

श्री नाथूरामजी प्रेमीजी के विविध विषयक लेखों का संग्रह 'जैन साहित्य और इतिहास' प्रथम प्रकाशित हो गया था किन्तु उसकी संशोधित और परिवर्धित आवृत्ति अभी हाल में प्रकाशित हुई है। ऐसा संग्रह पुनः प्रकाशित करना पड़ा—यह विद्वानों की तद्विषयक जिज्ञासा और उन लेखों का माहात्म्य सूचित करना ही है। साथ ही वयोवृद्ध श्री प्रेमीजी अपने विषय में कितने

प्रयत्न रहते हैं यह भी उनके विविध विषयक लेखों में किये गये संशोधन-परिवर्धन के द्वारा ज्ञात होता है।

डा० ए० एन्० उपाध्ये जैन और प्राकृत भाषा के विविध क्षेत्रों में लिखने-वालों में मूर्धन्य हैं। उनके द्वारा सम्पादित पुस्तकों और विविध विषयक लेखों की एक सूची Books and Papers अभी प्रकाशित हुई है। इस सूची से उनका विविध क्षेत्रव्यापी पांडित्य तो दृष्टिगोचर होता ही है साथ ही जैन विद्या की आधुनिक उन्नति का लेखा और उसमें डा० उपाध्ये की जो विशिष्ट देन है उसका भी पता लगता है और उनके प्रति आदर द्विगुणित हो जाता है।

डा० पिशल कृत 'प्राकृत व्याकरण' अब हमें अँगरेजी भाषा में भी उप-लब्ध हो गया है। डा० सुभद्र झा जैसे सुयोग्य भाषातत्त्वविद् ने इसका जर्मन से अँगरेजी में अनुवाद करके प्राकृतभाषारसिकों का मार्ग अत्यन्त सरल कर दिया है। नि सन्देह यह ग्रन्थ प्राकृत भाषा के अध्ययन के लिये आज भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना वह जब लिखा गया था, तब था। यह भी आनन्द का विषय है कि शीघ्र ही इसी व्याकरण का हिन्दी भाषा में भी अनु-वाद प्रकाशित होने जा रहा है। हिन्दी में अनुवाद डा० हेमचन्द्र जोशी ने किया है।

डा० सुनीति कुमार चटर्जी और सुकुमार सेन द्वारा संपादित A Middle-Indo-Aryan Reader का नवीन सशोधित और परिवर्धित सस्करण भाषाशास्त्र की दृष्टि से टिप्पणी के साथ दो भाग में प्रकाशित हुआ है। इसमें पालि-प्राकृत के कालक्रम से उपलब्ध विविध नमूने ई० पूर्व तीसरी शताब्दी से लेकर ई० १५वीं शताब्दी तक के दिये गये हैं।

कुषाणकालीन प्राकृत ग्रन्थ 'अंगविज्जा' का संपादन श्री मुनि पुण्यविजय जी ने अनेक प्रतियों के आधार से किया है और उसे प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी, बनारस ने प्रकाशित किया है। प्राकृत भाषा के अध्ययन के उपरांत कुषाण-कालीन भारतीय सांस्कृतिक अध्ययन के लिये भी अंगविज्जा ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है। उसकी सांस्कृतिक सामग्री का परिचय डा० मोतीचन्द्र ने अंग्रेजी में और डा० अग्रवाल ने हिन्दी में दिया है। किन्तु अंगविज्जा का मूल विषय ज्यौतिष से संबंध रखता है। शरीर के विविध अवयवों और अन्य वस्तुओं के आधार पर भविष्यकथन की प्रक्रिया का वर्णन विस्तार से इस ग्रन्थ में है। ग्रन्थ के इस मूल प्रतिपाद्य विषय का सामुद्रिक शास्त्र के अन्य ग्रन्थों के साथ तुलनात्मक

अध्ययन आवश्यक है। तज्ज्ञ विद्वान् इस ग्रन्थ की सामग्री का इस दृष्टि से अध्ययन करेंगे तो बहुत-सी नवीन सामग्री उन्हें मिलेगी ऐसा मेरा विश्वास है।

'धवला' टीका के साथ 'षट्खंडागम' के अंतिम तीन भाग—१४, १५ और १६ प्रकाशित हो गये हैं। और अब यह महाग्रन्थ विद्वानों को पूर्ण उपलब्ध हो गया है। डा० हीरालालजी को इसके लिये अभिनन्दन है।

भारतीय ज्ञानपीठ के महत्त्वपूर्ण प्रकाशनों में पंडित श्री महेन्द्रकुमारजी द्वारा संपादित अकलंककृत 'तत्त्वार्थवार्तिक' का दूसरा भाग प्रकाशित हो जाने से इस दार्शनिक ग्रन्थ का सुसम्पादित संस्करण विद्वानों को अब उपलब्ध हो गया है। महाबन्ध का चौथा-पाँचवाँ भाग पं० श्रीफूलचन्द्रजी द्वारा संपादित हुआ है। 'ज्ञानपीठ पूजाञ्जलि' का संपादन डा० उपाध्ये ने और पं० फूलचंद्रजी ने किया है। उससे दिगम्बर समाज में प्रचलित नित्य-नैमित्तिक कृत्यों में उपयोगी संस्कृत-प्राकृत-हिन्दी पाठों का शुद्ध रूप जिज्ञासुओं को मिल गया है। इतना ही नहीं किन्तु संस्कृत-प्राकृत का हिन्दी अनुवाद भी होने से मुमुक्षुओं के लिये यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा। पूज्यपाद कृत 'जैनेन्द्र व्याकरण' आचार्य अभयनन्दिकृत 'महावृत्ति' के साथ पं० शंभुनाथ त्रिपाठी और पं० महादेव चतुर्वेदी के द्वारा संपादित हो कर अपने पूर्ण रूप में प्रथम बार ही विद्वानों के समक्ष उपलब्ध हो रहा है। यह व्याकरणशास्त्र के तुलनात्मक अध्येताओं के लिए ग्रन्थरत्न सिद्ध होगा। डॉ० वासुदेव शरण ने इसकी भूमिका लिखी है और उन्होंने कई नये ऐतिहासिक तथ्यों की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया है। 'व्रततिथिनिर्णय' नामक ग्रन्थ का संपादन पं० नेमिचंद ने कुशलता से किया है और विस्तृत भूमिका में विविध व्रतों और उद्यापनों का परिचय दिया है। मूल ग्रन्थकर्ता का निर्णय हो नहीं सका है किन्तु संपादक के मत से सत्रहवीं शती के अंतिम चरण में किसी भट्टारक ने इसका सकलन किया है। 'हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन' में प० नेमिचंद्र ने दो भाग में अपभ्रंश भाषा के और हिन्दी भाषा के जैन लेखको की विविध विषयक कृतियो का परिचय दिया है। 'मगलमत्र णमोकार—एक अनुचिंतन' में प० नेमिचंद्र ने इस महामन्त्र का माहात्म्य वर्णित किया है और साथ ही योग, आगम, कर्मशास्त्र, गणितशास्त्र, कथा-साहित्य आदि में इस मंत्र की जो सामग्री मिलती है और उन शास्त्रों से जो इसका संबंध है उसे विस्तार से निरूपित किया है। इन सभी ग्रन्थों के प्रकाशन के लिये भारतीय ज्ञानपीठ के संचालकों को विशेषतः धन्यवाद है।

जीवराज जैन ग्रन्थमाला में पूर्वोक्त Jainism in South India के अतिरिक्त निम्न संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थ भी सुसंपादित हो कर प्रकाशित हुए हैं—१. नरेन्द्रसेन कृत 'सिद्धान्त सार संग्रह' का संपादन पं० जिनदास ने किया है तथा हिन्दी अनुवाद भी दिया है। इसमें जैन संमत सात तत्त्वों का विवेचन है। २. पद्मनन्दिकृत 'जंबूदीवपण्णत्ति संगह' का संपादन डॉ० उपाध्ये तथा डॉ० हीरालाल जैन ने किया है तथा हिन्दी अनुवाद पं बालचन्द्र ने किया है। प्रस्तावना में जैन भूगोल के अनेक ग्रन्थों का तथा प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय का परिचय दिया है।

'द्वादशारनय चक्र' का तृतीय भाग प्रकाशित हो गया है।

आचार्य हरिभद्र का योगविषयक प्राकृत ग्रन्थ 'योगशतक' अभी तक अप्रकाशित ही था। डा० इन्दुकला झवेरी ने बड़े परिश्रम से उसका संपादन और गुजराती विवेचन करके उसे प्रकाशित किया है। उसकी भूमिका में वैदिक, बौद्ध और जैन योग मार्ग का तुलनात्मक अध्ययन और आचार्य हरिभद्र की जीवनी विस्तार से दी है।

डा० उपाध्ये ने 'आनन्दसुन्दरीसट्टक' संपादित किया है। यह ग्रन्थ प्रथम ही प्रकाश में आ रहा है। इसके लेखक हैं घनश्याम और संस्कृत टीकाकार हैं भट्टनाथ। डा० उपाध्ये ने प्रस्तावना के अतिरिक्त भाषा शास्त्र की दृष्टि से टिप्पणी भी दी हैं।

आचार्य हेमचन्द्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' के दो पर्वों का हिन्दी अनुवाद श्री कृष्णलाल वर्मा ने किया है और हिन्दी जगत् को इस जैन पौराणिक ग्रन्थ का रसास्वादन कराया है। आशा करता हूँ कि गोडी जी ट्रस्ट के ट्रस्टी इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का पूरा हिन्दी अनुवाद शीघ्र ही प्रकाशित करेंगे।

हाल की 'गाथासप्तशती' का मराठी अनुवाद विस्तृत भूमिका के साथ श्री जोगलेकर ने किया है। भूमिका में भाषा की विवेचना के उपरांत उस समय का सामाजिक और राजनैतिक चित्र भी सप्तशती के आधार पर उपस्थित किया गया है। इसके लिये जोगलेकर के हम सब ऋणी रहेंगे।

'जैन शिलालेख संग्रह' का तृतीय भाग डा० गुलाबचन्द्र चौधरी की विस्तृत भूमिका के साथ प्रकाशित हुआ है। डा० चौधरी ने जैन संघ के विविध गच्छों की परंपरा का परिचय शिलालेखों में उल्लिखित तथ्यों के आधार पर दिया है।

इतना ही नहीं किन्तु जैन धर्म का प्रचार कहाँ कब हुआ इसका भी शिलालेखों में प्राप्त सामग्री के आधार से विवेचन एक इतिहास के विद्वान् की तटस्थता के साथ किया है।

'बिकानेर जैन लेख संग्रह' के नाम से श्री अगरचन्द्र और भँवरमलजी नाहटा ने बिकानेर के मंदिर, प्रतिमा, धर्मशाला आदि में प्राप्त लेखों को एकत्र करके मुद्रित किया है। उससे अनेक जैन गच्छों और कुलों का परिचय प्राप्त होता है।

महावीर ग्रन्थमाला, जयपुर की ओर से 'पुस्तक प्रशस्ति संग्रह' का श्री काशलीवाल द्वारा संपादित तृतीय भाग प्रकाशित हुआ है। उससे कई अद्यावधि अज्ञात जैन ग्रन्थों का पता चलता है।

प्रो० एन्० वी० वैद्य ने 'नलकहा' और 'बंभदत्तो' की द्वितीय आवृत्ति संपादित और प्रकाशित करके अध्येताओं की कठिनाइयों को दूर किया है।

कवि श्री अमर मुनि ने 'सामायिक सूत्र' का विवेचन उदार दृष्टि से किया है। उसका द्वितीय सस्करण प्रकाशित हुआ है। उससे ग्रन्थ की उपादेयता सिद्ध होती है। एक और ग्रन्थ 'प्रकाश की ओर' प्रकाश में आया है जिसमें श्री अमर मुनि के आध्यात्मिक प्रवचनों का संग्रह श्री सुरेश मुनि ने किया है। ये प्रवचन जीवन के हर क्षेत्र को स्पर्श करते हैं और समूचे मानव को उन्नत बनने की प्रेरणा देते हैं।

वर्णी ग्रन्थ माला से 'वर्णी वाणी' का चतुर्थ भाग प्रकाशित हुआ है और द्वितीय भाग का पुनः संस्करण हुआ है यह उस संग्रह की उपादेयता सिद्ध करता है।

'रत्नकरंड श्रावकाचार' का हिन्दी भाष्य पहले प्रकाशित हो चुका है अब उसका मराठी अनुवाद भी जीवराज दोशी द्वारा होकर प्रकाशित हो गया है।

श्री जुगलकिशोर मुख्तार ने 'अध्यात्म रहस्य' नामक पं० आशाधर का ग्रंथ जो अब तक अप्राप्य था खोज कर के हिन्दी विवेचन के साथ सपादित कर के एक बहुमूल्य कृति का उद्धार किया है। जैन योग के जिज्ञासु के लिए यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी।

श्री पूरणचंद सामसूखाकृत Lord Mahavira की द्वितीय आवृत्ति तेरोपंथी महासभा, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित हुई है। इसमें लेखक ने संशोधन और परिवर्धन किया है। भगवान् महावीर के जीवन के उपरांत जैनधर्म के

आचारों और दार्शनिक सिद्धांतों का भी संक्षेप में परिचय दिया है। पुस्तक जैन आगमों के आधार से लिखी गई है।

'Jainism and Modern Thought' के नाम से श्री शोफ द्वारा लिखी गई एक छोटी-सी पुस्तिका स्वय लेखक द्वारा प्रकाशित हुई है। उसमें आधुनिक विचारों के साथ जैनधर्म के विचारों की संगति दिखाने का प्रयत्न है।

श्री प्रेमीजी द्वारा संपादित होकर 'अर्धकथानक' की दूसरी आवृत्ति प्रकाशित हुई है। इस दूसरी आवृत्ति में डा० मोतीचंद्र और श्री बनारसीदास चतुर्वेदी के परिचय लेखों के अलावा संबद्ध अन्य नई उपलब्ध सामग्री भी प्रेमीजी ने दी है।

श्री धर्मानंद कोसंबी द्वारा मराठी में लिखित 'पार्श्वनाथाचा चातुर्याम धर्म' का हिन्दी भाषान्तर 'पार्श्वनाथ का चातुर्याय धर्म' के नाम से हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर बम्बई से प्रकाशित हुआ है। यह पुस्तक जैनधर्म के प्राचीन इतिहास के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण सिद्ध होगी।

श्री जयसुखलाल शाह द्वारा सपादित होकर श्री जयंत मुनि के व्याख्यान प्रकाशित हुए हैं। व्याख्यानों में अहिंसा और मानवधर्म तथा समन्वय दृष्टि का अच्छा निरूपण है। तथा राजप्रश्नीय सूत्र के विषय में भी व्याख्यान इसमें सगृहीत हैं।

Jaina Entiquary, जैन सिद्धांत भास्कर, अनेकान्त, जैन सत्य प्रकाश, जैन भारती आदि जैन पत्रिकाओं में जैनधर्म, दर्शन, इतिहास आदि विविध विषयों के लेख प्रकाशित हुए हैं। तदुपरांत निम्न महत्त्वपूर्ण लेख अन्यत्र प्रकाशित हुए हैं—

(1) Journal of the Asiatic Society (Letters) Vol, XXII. No. 1. 1956

(i) An Enquiry into Estern Apabhramsha: Dr. S. N. Ghosal

(ii) Controversy over the Significance of Apabhramsha and a Compromise between the views of Jacobi and Grierson: Dr. S. N. Ghosal

(2) वही Vol. XXII. No. 2. 1956
- (i) Probable Sources of Some Apabhramsha Stanzas of Hemachandra : Dr. S. N. Ghosal

(3) Indian Historical Quarterly, December 1956
- (i) Some Interesting Sculptures of the Jaina Goddess Ambica from Marwar : R. C. Agrawal M. A.

(4) Indian Historical Quarterly, March 1957
- (i) A Note on the Eastern and Western Manuscripts of Prakrita Paingala : Dr. S. N. Ghosal
- (ii) Author of Mulachara : V. Joharapurkar

(5) Journal of the Bihar Research Society, March 1956
- (i) Brahma cult and Jainism : Dr. T. P. Bhattacharya

(6) Oriental Thought January 1956
- (i) Inscriptional Prakrit : D. Diskalkar

(7) Asiatica–Festschrift F. Weller
- (i) The Vedhas in the Vasudevahindi : Dr. Alsdorf
- (ii) Mid-Indiac Verb-system : Dr. Edgarton
- (iii) Animals in Jaina Conon : Dr. Kohl
- (iv) Mohanaghara : Dr. Roth

इस क्षेत्र में जो प्रयत्न हो रहे हैं इसका मैंने आपके समक्ष संक्षिप्त चित्रण इसलिये किया है कि आप सभी महानुभावों का ध्यान इस ओर आकर्षित करूँ और आप से भी निवेदन करूँ कि अब पहले जैसा इस क्षेत्र में अंधकार नहीं है। प्रकाश की किरणें इस ओर भी जा रही है और आप सभी महानुभावों की दृष्टि इस ओर गई तो यह क्षेत्र और आलोकित होगा ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।

—:०:—

श्रीशङ्कर मुद्रणालय, हाथीगली, वाराणसी